भारत में जनजातियाँ, जाति एवं वर्ग
[TRIBES, CASTES AND CLASS IN INDIA]

संविधान के **अनुच्छेद 341 तथा 342** के उपबन्धों के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए 15 आदेशों द्वारा अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। 1991 ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों का अनुपात क्रमश: 8·08 तथा 16·48 था। इनका कुल जनसंख्या में अनुपात 24·56 था। 2001 ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या ने अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जनजातियों का अनुपात क्रमश: 8·20 तथा 16·20 है। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्य सरकारों ने भी अन्य पिछड़े वर्गों के नाम पर **खानाबदोश** तथा **अर्द्ध-खानाबदोश** जनजातियों एवं समुदायों का उल्लेख किया है। पंचवर्षीय योजनाओं में इन जनजातियों एवं जातियों के उत्थान को राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य लक्ष्य माना गया है। प्रस्तुत अध्याय में जनजातियों, दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों को समझाने का प्रयास किया गया है।

भारत में जनजातियाँ
(TRIBES IN INDIA)

भारतीय समाज व संस्कृति को जनजातियाँ निराली छवि प्रदान करती हैं। भारत में 532 जनजातियाँ निवास करती हैं तथा इनकी जनसंख्या कुल जनसंख्या का लगभग 7 प्रतिशत है। जनजातियों को 'वन्य जाति', 'आदिवासी', 'आदिम जाति', 'गिरिजन' आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। **घुरिये** (Ghurye) ने इन्हें 'पिछड़े हिन्दू' भी कहा है। वास्तव में जनजाति व्यक्तियों का एक वह समूह है जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है या विचरण करता है, किसी आदि पूर्वज से अपना उद्‌गम मानता है, जिसकी एक सामान्य संस्कृति है और जो आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभावों से सापेक्षिक रूप से वंचित है।

जनजाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

जनजाति ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित भू-भाग (सामान्यत: जंगल या पहाड़) पर निवास करते हैं, जिनकी एक संस्कृति होती है तथा जो आज भी आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं।

प्रमुख विद्वानों ने जनजाति की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं—

(1) गिलिन एवं **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार—"स्थानीय आदिवासियों के किसी भी ऐसे संग्रह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो तथा सामान्य संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता हो।"

(2) मजूमदार (Majumdar) ने जनजाति की परिभाषा इन शब्दों में दी है—"एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूहों का संग्रह है जिसका एक सामान्य नाम होता है और जिसके सदस्य एक ही भू-क्षेत्र में निवास करते हैं, एक भाषा बोलते हैं और विवाह, वृत्ति या व्यवसाय के प्रति कुछ निषेधों का पालन करते हैं तथा उनमें परस्पर आदान-प्रदान एवं दायित्वों की पारस्परिकता की एक सुनिश्चित व्यवस्था विकसित हो गई है।"

डी० एन० मजूमदार ने भारत की अनेक जनजातियों का क्षेत्रीय अध्ययन किया था। वे भारत के अग्रणी मानवशास्त्रियों में से थे, इसलिए हमने उन्हीं की परिभाषा को भारतीय जनजातियों के लिए अपनाया है।

जनजाति की प्रमुख विशेषताएँ

टी० बी० नायक (T. B. Naik) ने भारत की अनेक जनजातियों (जैसे—भील, मरिया आदि) का अध्ययन किया है तथा जनजातियों की निम्नलिखित सात प्रमुख विशेषताओं अथवा कसौटियों का उल्लेख किया है—

(1) किसी भी समुदाय को जनजाति कहलाने के लिए उसमें न्यूनतम प्रकार्यात्मक निर्भरता होनी चाहिए।

(2) जनजाति आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी होनी चाहिए अर्थात् उसकी अर्थव्यवस्था अल्पविकसित होनी चाहिए।

(3) भौगोलिक दृष्टि से जनजाति की अन्य लोगों से पृथकता होनी चाहिए।

(4) प्रत्येक जनजाति के सदस्यों की एक बोली होनी चाहिए।

(5) राजनीतिक दृष्टि से प्रत्येक जनजाति संगठित होनी चाहिए तथा उसकी एक प्रभावशाली जनजाति पंचायत होनी चाहिए।

(6) जनजाति के सदस्यों में परिवर्तन की अभिलाषा न्यूनतम होनी चाहिए अर्थात् उनमें रूढ़िवादिता तथा प्रथाओं से चिपके रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

(7) जनजाति के लोगों का सामाजिक जीवन परम्परागत नियमों से संचालित होना चाहिए।

अनुसूचित जनजाति का अर्थ

प्रत्येक जनजाति अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में नहीं आती है। 26 जनवरी, 1950 ई० को भारतीय संविधान के लागू होने के पश्चात् ही जनजातियों एवं जनजातीय समुदायों को 'अनुसूचित जनजातियों' की विशिष्ट संज्ञा देने की आवश्यकता महसूस की गई। वैसे तो भारत सरकार के अधिनियम 1935 ई० में भी 'पिछड़ी जनजातियों' का सन्दर्भ मिलता है। भारत सरकार के आदेश के अन्तर्गत तेरहवीं अनुसूची के अन्तर्गत असम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त, मद्रास तथा बम्बई की कुछ जनजातियों को 'पिछड़ी जनजातियों' की श्रेणी में रखा गया था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् 1950 ई० में जनजातीय समुदायों की पहचान कर 212 ऐसी जनजातियों की सूची तैयार की गई जिन्हें 'अनुसूचित जनजाति आदेश 1950 ई०' के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया तथा इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' माना गया। इस सूची में सभी जनजातीय समुदायों को अनेक कारणों से सम्मिलित नहीं किया गया यद्यपि वे सभी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। परिणामस्वरूप इस आदेश का काफी विरोध हुआ। इसे ध्यान में रखते हुए 'पिछड़ी जाति आयोग' का गठन किया गया जिसके अनुमोदन से पूर्व में बनाई गई सूची को संशोधित किया गया। इसके साथ ही 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम' लागू किया गया जिसके अन्तर्गत राज्य की सूचियों में भी परिवर्तन किया गया।

वस्तुत: भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार, राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक सूचना के द्वारा समय-समय पर जनजातियों अथवा जनजातीय समुदायों को सूचीबद्ध कर उन्हें अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में रखे। इस प्रकार, अनुसूचित जनजाति से अभिप्राय संविधान के प्रावधानों के अनुकूल सूचीबद्ध की गई जनजाति से है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के खण्ड 1 में कहा गया है कि, ''अनुसूचित जनजातियाँ वे जनजातियाँ अथवा जनजातीय समुदाय या उनका कोई हिस्सा या इन जनजातियों का कोई समूह है जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा सार्वजनिक सूचना द्वारा अनुच्छेद 342 (i) के अन्तर्गत रखा गया है।'' भारत सरकार द्वारा तथा प्रदेश सरकारों द्वारा समय-समय पर विभिन्न जनजातियों को अनुसूचित श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इस सूची में अधिकांश जनजातियों को सम्मिलित किया गया है तथा उनके उत्थान हेतु संवैधानिक प्रावधान किए गए हैं।

अनुसूचित जनजाति की विशेषताएँ

अनुसूचित जनजातियों की विशेषताओं को जनजातियों की सामान्य विशेषताओं से पृथक् करना एक कठिन कार्य है। फिर भी, अनुसूचित जनजातियों में पाई जाने वाली प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) अनुसूचित जनजातियाँ आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़ी हुई हैं। उनकी अर्थव्यवस्था अत्यन्त सरल तथा अविकसित होती है।

(2) अनुसूचित जनजातियों की आधे से अधिक (55 प्रतिशत) जनसंख्या पूर्वी तथा मध्य जनजातीय क्षेत्रों (पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा आन्ध्र प्रदेश का कुछ भाग) तथा एक-चौथाई से थोड़ा अधिक (28 प्रतिशत) भाग पश्चिमी जनजातीय क्षेत्र (गुजरात, महाराष्ट्र राजस्थान, गोवा, दादरा व नगर हवेली, दमन तथा दीव) में निवास करता है।

(3) अनुसूचित जनजातियाँ शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। 2001 ई० की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की अखिल भारतीय साक्षरता दर 47·1 प्रतिशत है, जबकि साक्षरता का राष्ट्रीय औसत 64·8 प्रतिशत है। जनजातीय महिलाओं तथा सामान्य महिलाओं में साक्षरता के प्रतिशत में और अधिक अन्तर है। जनजातीय महिलाओं की साक्षरता का औसत केवल 34·8 प्रतिशत है, जबकि देश की सामान्य महिलाओं का साक्षरता का औसत 53·7 प्रतिशत है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इनके शैक्षिक उत्थान हेतु अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं।

(4) अनुसूचित जनजातियों हेतु पंचायतों तथा स्थानीय निकायों से लेकर राज्य विधानसभाओं तथा लोकसभा तक आरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई है ताकि नीति निर्माण में इनकी समुचित सहभागिता सुनिश्चित हो सके।

(5) अनुसूचित जनजातियों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों की सेवाओं में आरक्षण सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इन्हें नौकरियों में आयु सीमा में छूट, उपयुक्तता के मापदण्डों में छूट तथा अनुभव सम्बन्धी योग्यताओं में छूट प्रदान की गई है ताकि नौकरियों में इनका समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।

(6) अनुसूचित जनजातियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी पिछड़ी हुई हैं। इसका प्रमुख कारण इन्हें आधुनिक चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध न हो पाना है।

(7) अनुसूचित जनजातियों के कल्याण एवं विकास हेतु राज्यों में कल्याण विभागों की स्थापना की गई है, जो कि जनजातीय कल्याण कार्यों की देख-रेख करते हैं। इनके विकास हेतु इनके बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को भी अनुदान प्रदान किए जाते हैं। अनुसूचित जनजाति की महिलाओं और बच्चों के हित सुरक्षित करने के लिए केन्द्रीय कल्याण राज्यमन्त्री की अध्यक्षता में सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गई है।

(8) पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु विशेष प्रावधान किए जाते हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आदिवासियों के विकास तथा कल्याण से सम्बन्धित अनेक कार्यक्रमों तथा योजनाओं को स्थान दिया गया है। आदिवासी उपयोजना कार्यक्रम का लक्ष्य गरीबी को दूर करना है। बीस सूत्री कार्यक्रमों में सर्वोच्च स्थान 'गरीबी के विरुद्ध संघर्ष' को दिया गया था।

(9) आर्थिक शोषण अनुसूचित जनजातियों की एक प्रमुख समस्या है। इस समस्या के समाधान हेतु भारतीय जनजातीय विपणन विकास संघ की स्थापना की गई है ताकि उनका आर्थिक शोषण कम हो सके। वन से प्राप्त सामग्रियों के विपणन के सम्बन्ध में सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की दृष्टि से सरकार के द्वारा समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम आदि को आदिवासी क्षेत्रों में लागू किया गया है।

(10) संविधान की **पाँचवीं अनुसूची** में अनुसूचित क्षेत्र वाले तथा राष्ट्रपति के निर्देश पर अनुसूचित आदिम जातियों वाले राज्यों में आदिम जाति के लिए सलाहकार परिषदों की स्थापना की व्यवस्था है। आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में ऐसी परिषदों की स्थापना की जा चुकी है। ये परिषदें आदिवासियों के कल्याण सम्बन्धी विषयों पर राज्यपालों को परामर्श देती हैं।

(11) अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के अध्ययन एवं उनके समाधान के कारगर उपायों की खोज करने के उद्देश्य से आदिवासी शोध संस्थान एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है। भारत में छठी पंचवर्षीय योजना के पूर्व भुवनेश्वर (1953 ई०), कोलकाता (1955 ई०), पटना (1959 ई०), पुणे, अहमदाबाद, शिलांग (1962 ई०), हैदराबाद (1963 ई०), उदयपुर (1968 ई०), कालीकट, लखनऊ (1971 ई०) तथा गुवाहाटी (1977 ई०) में ऐसे अनेक शोध केन्द्रों की स्थापना की गई है। इन विभिन्न शोध केन्द्रों ने आदिवासियों की समस्याओं के सन्दर्भ में 168 विविध सर्वेक्षणात्मक एवं शोधपूर्ण अध्ययन किए हैं।

(12) केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिए बनाए गए संवैधानिक तथा कानूनी सुरक्षा उपायों को लागू करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा इसके प्रभावशाली क्रियान्वयन पर भी अधिक जोर दिया जा रहा है।

भारत में जाति
(CASTE IN INDIA)

मजूमदार एवं **मदन** (Majumdar and Madan) ने भी लिखा है कि, ''हिन्दू सामाजिक संरचना की सबसे अधिक चर्चित विशेषता जाति की संस्था है या, इसे अधिकतर जाति व्यवस्था कहा जाता है। विश्व के अन्य हिस्सों में भी जाति पाई जाती है लेकिन भारत में जिस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है वह अपनी कुछ अनूठी विशेषता द्वारा जानी जाती है, न कि उन विशेषताओं द्वारा जोकि अन्यत्र जाति संरचनाओं में विद्यमान हैं।'' जाति को सामाजिक संस्तरण के दूसरे रूप, वर्ग से पृथक् करते हुए उन्होंने लिखा है कि, ''जाति एक बन्द वर्ग

है। सामान्यत: व्यक्ति इसमें पैदा होता है·····किसी जाति की सदस्यता अनिवार्य है, न कि चयन का विषय जैसा कि वर्ग सदस्यता के साथ है।''

जाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

जाति शब्द अंग्रेजी शब्द 'कास्ट' (Caste) का हिन्दी रूपान्तर है। इसका पहला उपयोग 1563 ई० में **ग्रेसिया डी ओर्टा** (Gracia de Orta) ने किया था। उनके शब्दों में, ''लोग अपने पैतृक व्यवसाय को परिवर्तित नहीं करते हैं। इस प्रकार जूते बनाने वाले लोग एक ही प्रकार (जाति) के हैं।'' इसी अर्थ में **अब्बे डुबायस** (Abbe Dubois) ने इसे प्रयुक्त किया है। उनका मत है कि 'कास्ट' शब्द यूरोप में किसी कबीले और वर्ग को व्यक्त करने के लिए उपयोग में लिया जाता रहा है। **ए० आर० वाडिया** (A. R. Wadia) का मत है कि 'कास्ट' शब्द लैटिन भाषा के 'कास्टस' (*Castus*) से मिलता-जुलता शब्द है जिसका अर्थ विशुद्ध प्रजाति या नस्ल होता है। कुछ लोग इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'कास्टा' (*Casta*) से मानते हैं जिसका अर्थ प्रजातीय तत्त्व, नस्ल, अथवा पैतृक गुणों से सम्पूर्ण है। हिन्दी का 'जाति' शब्द संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है जिसका अर्थ 'उत्पन्न होना' व 'उत्पन्न करना' है। इस दृष्टिकोण से जाति का अभिप्राय जन्म से समान गुण वाली वस्तुओं से है। परन्तु समाजशास्त्र में 'जाति' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया जाता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई जाति की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

(1) रिजले (Risley) के अनुसार—''यह परिवार या कई परिवारों का संकलन है जिसको एक सामान्य नाम दिया गया है, जो किसी काल्पनिक पुरुष या देवता से अपनी उत्पत्ति मानता है तथा पैतृक व्यवसाय को स्वीकार करता है और जो लोग विचार कर सकते हैं उन लोगों के लिए एक सजातीय समूह के रूप में स्पष्ट होता है।''

(2) मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार—''जब व्यक्ति की प्रस्थिति पूर्णत: पूर्वनिश्चित होती है अर्थात् जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति में किसी भी तरह के परिवर्तन की आशा लेकर नहीं उत्पन्न होता, तब वर्ग जाति के रूप में स्पष्ट होता है।''

(3) मजूमदार एवं **मदन** (Majumdar and Madan) के अनुसार—''जाति एक बन्द वर्ग है।''

(4) दत्त (Dutta) के अनुसार—''एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ भोजन करने और पानी पीने के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परन्तु कुछ कम कठोर नियन्त्रण हैं। अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय हैं। जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियाँ हैं, जिनमें सर्वोपरि ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति है। मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है। यदि व्यक्ति नियमों को भंग करने के कारण जाति से बाहर न निकाल दिया गया हो तो एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है।''

(5) कूले (Cooley) के अनुसार—''जब कोई भी वर्ग पूर्णत: वंशानुक्रमण पर आधारित हो जाता है तो वह जाति कहलाता है।''

(6) केतकर (Ketkar) के अनुसार—''जाति जिस रूप में आज है उसे एक सामाजिक समूह के रूप में समझा जा सकता है जो मुख्यत: दो विशेषताओं से मिलकर बनता है, पहले यह कि इसके सदस्य जन्म से ही बन जाते हैं, दूसरे सभी सदस्य अत्यन्त कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।''

जाति की परिभाषाओं के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जाति का पद व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होता है तथा जाति की सदस्यता केवल उसमें पैदा होने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित होती है। एक बार जाति में जन्म लेने के बाद जाति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। जाति अन्तर्विवाही होती है अर्थात् एक जाति के व्यक्ति को विवाह अपनी जाति में ही करना होता है। प्रत्येक जाति का व्यवसाय निश्चित रहता है तथा उसमें भोजन तथा सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्ध होते हैं। यदि इन परिभाषाओं का विश्लेषण समकालीन भारतीय समाज के सन्दर्भ में किया जाए तो हमें यह ज्ञात होता है कि ये समस्त परिभाषाएँ आधुनिक युग में जाति का यथार्थ चित्र अंकित नहीं कर पातीं। अभी तक किसी वास्तविक सामान्य परिभाषा की प्राप्ति नहीं की जा सकी है। वास्तव में, समाजशास्त्रियों ने तो जाति की परिभाषा देने की अपेक्षा उसकी विशेषताओं का ही विवरण प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में **जी० एस० घुरिये** (G. S. Ghurye) का कहना है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विषय की जटिलता के कारण परिभाषा देने के हर प्रयास का असफल होना निश्चित है। दूसरी ओर, इस विषय पर बहुत-सा साहित्य इस 'जाति' शब्द की सुनिश्चितता के अभाव के कारण क्षत-विक्षत सा पड़ा है।

जाति के लक्षण

एन० के० दत्त ने जाति व्यवस्था के निम्नलिखित छह लक्षणों का उल्लेख किया है—

(1) जाति का कोई भी सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता है।

(2) प्रत्येक जाति में भोजन और खान-पान सम्बन्धी कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध होते हैं जो सदस्यों को अपनी जाति से बाहर भोजन करने पर रोक लगाते हैं। ये प्रतिबन्ध प्रत्येक जाति में लागू होते हैं।

(3) प्राय: जाति के पेशे निश्चित होते हैं।

(4) सभी जातियों और उप-जातियों में एक ऊँच-नीच या संस्तरण की व्यवस्था पाई जाती है जिसमें ब्राह्मण जाति का स्थान सर्वोपरि है और उसे सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है।

(5) जन्म के साथ ही व्यक्ति की जाति का निश्चय जीवन भर के लिए हो जाता है। केवल जाति के नियमों के विपरीत कार्य करने पर ही उसे जाति से निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त, एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है।

(6) सम्पूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

किंग्स्ले डेविस के अनुसार जाति व्यवस्था के निम्नलिखित सात प्रमुख लक्षण हैं—

(1) जाति की सदस्यता वंशानुगत होती है। जन्म से ही बच्चा अपने माता-पिता की जाति को ग्रहण कर लेता है।

(2) जाति की सदस्यता जन्मजात रहती है अर्थात् कोई भी व्यक्ति किसी प्रयास द्वारा (जैसे अच्छे कार्यों से, विवाह से, कपट-वेश धारण करके अन्यथा किसी अन्य कौशल द्वारा) अपनी जाति बदल नहीं सकता है।

(3) जाति अन्तर्विवाही समूह है अर्थात् जीवनसाथी का चुनाव सजातीय-विवाही होता है।

(4) जाति अपने सदस्यों पर एक-दूसरे के साथ खान-पान, सामाजिक सहवास, सहयोग, सम्पर्कों की स्थापना आदि पर प्रतिबन्ध लगाती है।

(5) प्रत्येक जाति का एक नाम होता है जोकि जातीय चेतना को बल देता है।

(6) प्रत्येक जाति का परम्परागत व्यवसाय होता है। व्यवसाय के अतिरिक्त, सामान्य जनजातीय अथवा प्रजातीय उत्पत्ति सम्बन्धी विश्वासों, सामान्य धार्मिक कृत्यों अथवा किन्हीं विशेषताओं द्वारा जाति संगठित होती है।

(7) प्रत्येक जाति के मध्य श्रेष्ठता तथा निम्नता की भावना पाई जाती है।

जी० एस० घुरिये ने भी जाति व्यवस्था के छह लक्षणों का उल्लेख किया है। ये लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन,

(2) संस्तरण,

(3) भोजन व सामाजिक व्यवहार पर नियन्त्रण,

(4) विभिन्न उपविभागों की नागरिक तथा धार्मिक योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार,

(5) निर्बाध व्यवसाय के चुनाव का अभाव तथा

(6) विवाह पर नियन्त्रण।

एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार पिछली शताब्दियों के दौरान प्रचलित जाति के लक्षणों को निम्नलिखित नौ शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णित किया जा सकता है—

(1) संस्तरण अथवा पदानुक्रम (Hierarchy),

(2) अन्त: विवाह तथा अनुलोम विवाह (Endogamy and hypergamy),

(3) व्यावसायिक सम्बद्धता (Occupational association),

(4) भोजन, जलपान एवं धूम्रपान पर प्रतिबन्ध (Restriction on food, drink and smoking),

(5) प्रथा, भाषा एवं पहनावे का भेद (Distinction in custom, dress and speech),

(6) अपवित्रीकरण (Pollution),

(7) संस्कार एवं अन्य विशेषाधिकार तथा निर्योग्यताएँ (Rituals and other privileges and disabilities),

(8) जाति संगठन (Caste organization) तथा

(9) जाति गतिशीलता (Caste mobility)।

जाति व्यवस्था के दो पक्ष होते हैं—संरचनात्मक व सांस्कृतिक। इन दोनों पक्षों के मिले-जुले लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) भारतीय समाज का खण्डात्मक विभाजन—जाति व्यवस्था से भारतीय समाज खण्डों में विभाजित हो गया है और यह विभाजन सूक्ष्म रूप में हुआ है। प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति तथा भूमिका सुस्पष्ट व सुनिश्चित रूप से परिभाषित हुई है। **घुरिये** ने इसे सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता माना है। उनके शब्दों में, ''इसका तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था द्वारा, बँधे समाज में हमारी भावना भी सीमित होती है, सामुदायिक भावना सम्पूर्ण मनुष्य समाज के प्रति न होकर केवल जाति के सदस्यों तक सीमित होती है तथा जातिगत आधार पर सदस्यों को प्राथमिकता दी जाती है।'' इस प्रकार, यह विभाजन एक नैतिक नियम है और प्रत्येक सदस्य इसके प्रति सचेत होता है। यह उन्हें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है जिसके आधार पर वे अपने पद और कार्यों में दृढ़ होते हैं। साधारणत: कर्त्तव्य-पालन न करने पर जाति से निष्कासन की व्यवस्था होती है या आर्थिक दण्ड दिया जाता है।

(2) ऊँच-नीच की परम्परा अथवा संस्तरण—जाति व्यवस्था में ऊँच-नीच की परम्परा स्थापित होती है जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च होता है और निम्न स्तर शूद्र लोगों का होता है। क्षत्रिय व वैश्य लोगों की स्थिति क्रमश: इनके मध्य की होती है। पुन: ये चार वर्ण अनेक जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो गए हैं। हम की भावना सीमित होने से सदस्य केवल अपने खण्ड या जाति के लोगों को ही महत्त्व देते हैं और उनमें श्रेष्ठता की भावना भी जन्म लेती है। परन्तु कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें सामाजिक दूरी इतनी कम है कि उनमें ऊँच-नीच के आधार पर जो सामाजिक संरचना स्पष्ट हुई है वही संस्तरण परम्परा है। जातीय संस्तरण रक्त की पवित्रता, पूर्वजों के व्यवसाय के प्रति आस्था व अन्यों के साथ भोजन व पानी के प्रतिबन्ध आदि विचारों पर आधारित होती है।

(3) जन्म से जाति का निर्धारण—जाति व्यवस्था का निश्चय जन्म के साथ ही हो जाता है। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है उसी जाति समूह में वह जीवनपर्यन्त रहता है। इस वातावरण को न तो धनाढ्यता अलग कर सकती है, न निर्धनता, न सफलता और न असफलता ही। जाति के ही वंशधर उस जाति के सदस्य माने जाते हैं। जाति से बहिष्कार द्वारा ही व्यक्ति निम्न जाति में जाता है, अन्य किसी भी कारक द्वारा व्यक्ति अपनी जाति की सदस्यता परिवर्तित नहीं कर सकता है। इस सन्दर्भ में **ए० आर० वाडिया** ने कहा है कि, ''हिन्दू जन्म से हिन्दू हो सकता है। रूढ़िवादी जाति व्यवस्था के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति परिवर्तन के द्वारा हिन्दू नहीं हो सकता है।''

(4) भोजन और सामाजिक सहवास सम्बन्धी निषेध—भारतीय जाति व्यवस्था प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिए अपने समूह के बाहर भोजन और सामाजिक सहवास पर नियन्त्रण रखती है। इन नियमों का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता है। नगरीकरण और आवागमन के साधनों के विकास के कारण अब यह नियन्त्रण नगरों एवं औद्योगिक क्षेत्रों में ढीला होता जा रहा है, पर गाँवों में यह नियन्त्रण आज भी काफी मात्रा में देखा जा सकता है। प्रत्येक जाति में ऐसे नियम बड़े सूक्ष्म रूप से बनाए गए हैं जो यह निर्धारण करते हैं कि किसी जाति के सदस्य को (मुख्यत: जो ऊँची जातियों के हैं) कहाँ कच्चा भोजन करना है, कहाँ पक्का तथा कहाँ केवल जल ग्रहण करना है और कहाँ जल पीना भी निषिद्ध है। आधुनिक युग में यातायात के साधनों व शिक्षा में विकास के कारण और शासकीय प्रयत्नों आदि के कारण ये निषेध कमजोर होते जा रहे हैं। फिर भी, ग्रामीण भारत में आज की परिस्थिति में भी काफी हद तक ये सीमाएँ या निषेध प्रचलित हैं।

(5) अन्तर्विवाह—सभी जातियाँ अन्तर्विवाही होती हैं अर्थात् जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति में विवाह करना पड़ता है। यह निषेध आज बहुत जगहों में जाति तक नहीं वरन् उप-जाति तक सीमित हो गया है। जाति व्यवस्था के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह अस्वीकृत हैं। **वेस्टरमार्क** (Westermarck) ने जाति व्यवस्था की इस विशेषता को इसका सार-तत्त्व माना है। **घुरिये** (Ghurye) का भी यही मत है कि जाति व्यवस्था का अन्तर्विवाही सिद्धान्त इतना कठोर है कि समाजशास्त्री इसे जाति व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। व्यावहारिक रूप में यह अन्तर्विवाह भी भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत बँधा हुआ है। एक जाति की कई उप-जातियाँ होती हैं और प्राय: एक ही प्रान्त में रहने वाली उप-जातियों में विवाह होते हैं।

(6) परम्परागत पेशों का चुनाव—मुख्यत: सभी जातियों के कुछ निश्चित पेशे होते हैं और जाति के सदस्य अपने उन्हीं पैतृक पेशों को स्वीकार करते हैं। उन्हें छोड़ना उचित नहीं समझा जाता। कोई भी पेशा, चाहे

वह व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे, उसे मानसिक सन्तोष हो या न हो; व्यक्ति को परम्परागत पेशों को ही अपनाना पड़ता है। साधारणत: लोग अपने पैतृक पेशे को ही अपनाना उचित समझते रहे हैं। पेशों का भी निर्धारण ऊँच-नीच के आधार पर होता रहा है। यदि उच्च जाति का कोई व्यक्ति निम्न जाति के पेशों को अपनाता है तो उनका जातीय विरोध होता रहा है। इसी प्रकार, निम्न जाति का सदस्य जब उच्च जाति के पेशों को अपनाता है तो उसका भी विरोध होता था। परन्तु आजकल इन नियमों में भी शिथिलता आ गई है।

(7) धार्मिक और सामाजिक निर्योग्यताएँ एवं विशेषाधिकार—जिस प्रकार जाति व्यवस्था में संस्तरण है ठीक उसी प्रकार इसमें धर्म और समाज सम्बन्धी निर्योग्यताएँ भी हैं। प्रत्येक मानव निवास की जगह में, मुख्यत: गाँवों में, यदि देखा जाए तो अछूतों और अन्य निम्न जातियों की निवास व्यवस्था गाँवों के छोर पर रहती थी। उनके धार्मिक और नागरिक अधिकार भी सीमित होते थे। इसके विपरीत, ऊँची जातियों को सभी अधिकार प्राप्त रहे हैं तथा धर्म की पूरी छूट थी। साधारणत: शारीरिक श्रम करने वाली जातियाँ निम्न समझी जाती रही हैं। त्रावनकोर के वैकम (Vaikam) गाँव की विशिष्ट गलियों में अछूत जातियों ने प्रवेश करने की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया था। परम्परागत रूप से दक्षिण भारत में तो ये निर्योग्यताएँ अपनी चरम सीमा पर रही हैं। वहाँ अछूतों को कुछ विशेष सड़कों पर चलने की मनाही थी। इतिहास इस बात का उदाहरण है कि पेशवाओं और मराठों ने पूना शहर के दरवाजों के भीतर मसार और मूँग जाति के लोगों का शाम तीन बजे से सुबह नौ बजे तक प्रवेश वर्जित कर दिया था। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारत में अछूत सवर्णों के ऊपर अपनी छाया नहीं डाल सकते थे तथा उनके सामने नहीं जा सकते थे। **ब्लण्ट** (Blunt) ने कहा है कि गुजरात में दलित जातियाँ अपने विशिष्ट चिह्न के रूप में सींग पहना करती थीं।

(8) आर्थिक असमानता—जाति व्यवस्था में आर्थिक असमानता का भी समावेश है। जाति व्यवस्था के निर्माण के साथ-साथ यह भावना भी चली कि जो निम्न है उसे कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। निम्न जाति के कार्य, चाहे वह जीवन-यापन के लिए कितने ही उपयोगी क्यों न हों, मूल्यों की दृष्टि से हीन समझे जाते रहे हैं। इस प्रकार उनकी आय, सम्पत्ति और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी बहुत कम रही हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा आदि का सदा से अभाव रहा है। परम्परागत रूप से भारतीय जाति व्यवस्था की यह विशेषता रही है कि सामान्यत: उच्च जातियों की आर्थिक स्थिति भी उच्च रही है और निम्न जातियों की आर्थिक स्थिति भी निम्न रही है।

किसी भी संस्था या समाज की इकाई का अस्तित्व तब तक बना रहता है जब तक कि वह समाज की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो। जब यही संस्था या इकाई समाज के लिए अकार्यात्मक (Dysfunctional) हो जाती है तो उसे या तो नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन करना पड़ता है अथवा ऐसा न करने पर उसके विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कई बार परिवर्तन की नवीन शक्तियाँ उपयोगी संस्थाओं व इकाइयों में भी ऐसे अवगुण भर देती हैं कि उनका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। क्या जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है? जाति व्यवस्था की समाप्ति या इसका भविष्य इसके द्वारा किए जाने वाले प्रकार्यों तथा अकार्यों पर निर्भर करता है।

भारत में वर्ग
(CLASS IN INDIA)

समाज में भौतिक संस्कृति की वृद्धि तथा औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप समाज का स्तरीकरण रक्त की शुद्धता एवं जन्म के आधार पर न होकर सामाजिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति एवं आर्थिक स्थिति के आधार पर या तीनों के सम्मिलित रूप से होता है। वर्ग व्यवस्था भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रकार है। चूँकि वर्ग अर्जित पदों को महत्त्व देता है तथा इसमें मनुष्य अपनी योग्यता के आधार पर उच्च पद को ग्रहण कर सकता है और उच्च वर्ग का सदस्य हो सकता है। अत: यह व्यवस्था जाति के विपरीत खुली एवं लोचपूर्ण व्यवस्था है तथा इसमें परम्परागत कठोरता नहीं पाई जाती है।

कार्ल मार्क्स, **मैक्स वेबर** आदि विचारकों का मत है कि वर्ग मुख्यत: आर्थिक अन्तर पर आधारित हैं। कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि प्राचीन युग से ही समाज आर्थिक आधार पर दो वर्गों में बँटा हुआ है। पहले जब कृषि युग था तब दो प्रमुख वर्ग थे—जमींदार तथा कृषक, सामन्त तथा दास, औद्योगीकरण के बाद पूँजीपति तथा श्रमिक। चाहे पूँजीपति वर्ग को लें अथवा जमींदार या सामन्त वर्ग को, इनके पास भौतिक सम्पन्नताएँ अधिक थीं। वे मालिक रहे हैं और कृषक, दास एवं श्रमिक वर्ग के लोग प्राचीन युग से ही अच्छी कोटि की

सुविधाओं से वंचित रहे हैं। आखिर सामाजिक वर्ग क्या है? इसे हम इसके अर्थ एवं प्रमुख परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट कर सकते हैं।

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषाएँ

वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का ही एक स्वरूप है। यह मुख्यत: आर्थिक समानताओं एवं समान जीवन के अवसरों पर आधारित समूह है। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते है कि वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्यों की आर्थिक स्थिति, जीवन-यापन हेतु उपलब्ध अवसर एवं अन्य विशेषताएँ समान होती हैं तथा जिनके सदस्यों में अपने समूह के प्रति चेतना पाई जाती है। प्रमुख विद्वानों ने वर्ग की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं—

(1) ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार—"एक निश्चित समाज में मुख्य रूप से एक ही पद वाले व्यक्तियों के समूह को सामाजिक वर्ग कहा जाता है।"

(2) मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार—"सामाजिक वर्ग एक समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक् दृष्टिगोचर होता है।"

(3) जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार—"एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा विशेष श्रेणी है, जिसका समाज में एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्धों को स्थायी रूप से निर्धारित करता है।"

(4) लेपियर (LaPiere) के अनुसार—"सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट स्थिति या पद दिया जाता है।"

(5) बॉटोमोर (Bottomore) के अनुसार—"सामाजिक वर्ग तथ्यत: कानूनी एवं धार्मिक रूप से परिभाषित एवं मान्य समूह होते हैं जोकि बन्द नहीं हैं अपितु खुले हैं। उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक वर्ग एक समान स्थिति वाले व्यक्तियों का एक समूह है। इससे अभिप्राय सामाजिक संस्तरण की उस मुक्त व्यवस्था से है जो योग्यता, शिक्षा तथा आर्थिक स्थिति पर आधारित हो सकती है।

वर्ग के लक्षण

वर्ग की परिभाषाओं से इसके अनेक लक्षण स्पष्ट होते हैं जोकि निम्नलिखित हैं—

(1) निश्चित संस्तरण (Definite hierarchy)—वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति कुछ श्रेणियों में विभाजित होते हैं। यद्यपि वर्गों की संख्या के बारे में विद्वानों में सहमति नहीं है फिर भी यह निश्चित है कि कुछ वर्गों का स्थान ऊँचा और कुछ का नीचा होता है।

(2) वर्ग की सर्वव्यापकता (Universality of class)—वर्ग मानव समाज की एक सर्वव्यापी प्रघटना है। मार्क्स के अनुसार वर्ग व्यवस्था प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल में भी किसी-न-किसी रूप में सदैव विद्यमान रही है। यद्यपि इन्होंने वर्गविहीन समाज की कल्पना की थी, परन्तु अधिकांश विद्वान् वर्गविहीन समाज को केवल एक दिवास्वप्न मानते हैं क्योंकि मानव जीवन के इतिहास में इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है।

(3) वर्ग चेतना (Class consciousness)—वर्ग चेतना के कारण वर्ग-विशेष के सदस्यों में समानता की भावना प्रोत्साहित होती है व उस वर्ग को स्थायित्व प्राप्त होता है। **कार्ल मार्क्स** ने वर्ग चेतना को वर्ग के निर्माण की एक अनिवार्य विशेषता माना है क्योंकि केवल समान आर्थिक स्थिति ही वर्ग के निर्धारण में पर्याप्त नहीं है।

(4) अर्जित सदस्यता (Achieved membership)—वर्ग की सदस्यता जन्म द्वारा नहीं वरन् योग्यता और कुशलता द्वारा अर्जित होती है। व्यक्ति अपनी क्षमता एवं योग्यता से वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति, जो निम्न वर्ग का सदस्य है, प्रयत्न करने से उच्च वर्ग का सदस्य बन सकता है। ठीक उसी प्रकार, एक उच्च वर्ग का सदस्य अपनी अयोग्यता के कारण निम्न वर्ग का सदस्य बन सकता है।

(5) मुक्त व्यवस्था (Open system)—वर्ग जाति के समान बन्द व्यवस्था न होकर मुक्त व्यवस्था है। किसी व्यक्ति का वर्ग उसकी परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो सकता है। इसी गतिशीलता के कारण इसे मुक्त व्यवस्था कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर उपलब्ध हैं जिससे कि वह अपने गुणों, योग्यता

तथा क्षमता के आधार पर उच्च वर्ग का सदस्य बन सके। उदाहरण के लिए—एक सामान्य श्रमिक अपनी मेहनत, लगन व योग्यता से उसी फैक्टरी का निदेशक तक बन सकता है जिसमें कि वह काम करता है।

(6) सीमित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted social relation)—प्रत्येक वर्ग के सदस्य अपने ही वर्ग के सदस्यों से सम्बन्ध रखते हैं। सामान्यत: उच्च वर्ग के सदस्य निम्न वर्ग के सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित करने में सम्मान की हानि समझते हैं अर्थात् उनमें उच्चता की भावना (Superiority complex) होती है। ठीक इसके विपरीत, निम्न वर्ग के लोगों में निम्नता की भावना (Inferiority complex) होने के कारण, वे उच्च वर्ग के लोगों से मिलने या सम्बन्ध बढ़ाने में झिझक महसूस करते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वर्ग व्यवस्था में भी जाति की तरह अन्य समूहों के साथ रहने एवं खाने-पीने पर प्रतिबन्ध पाए जाते हैं। इसमें केवल अपने वर्ग के सदस्यों के साथ सम्पर्कों को प्राथमिकता दी जाती है।

(7) आर्थिक आधार (Economic base)—वर्ग निर्माण में आर्थिक आधार को ही प्रधानता दी जाती है। विशेषकर मार्क्स ने वर्ग निर्माण में आर्थिक आधार को प्रधानता दी है। सामान्यत: समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त होता है—(1) उच्च वर्ग, (2) मध्यम वर्ग, तथा (3) निम्न वर्ग। इन वर्गों को पुन: तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

उच्च वर्ग	**मध्यम वर्ग**	**निम्न वर्ग**
उच्च-उच्च वर्ग	उच्च-मध्यम वर्ग	उच्च-निम्न वर्ग
मध्यम-उच्च वर्ग	मध्यम-मध्यम वर्ग	मध्यम-निम्न वर्ग
निम्न-उच्च वर्ग	निम्न-मध्यम वर्ग	निम्न-निम्न वर्ग

(8) सामान्य जीवन (Common life)—यद्यपि प्रत्येक वर्ग के सदस्य को किसी भी प्रकार के जीवन-यापन की स्वतन्त्रता होती है। फिर भी, वर्ग के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि जिस प्रकार का वर्ग हो उसी के अनुरूप सदस्य जीवन-यापन करें। उच्च, मध्यम एवं निम्न, तीन वर्गों का एक विशिष्ट जीवन प्रतिमान होता है और उससे सम्बन्धित सदस्य उसे अपनाते हैं। इतना ही नहीं, एक वर्ग के सदस्यों के जीवन अवसरों में भी समानता पाई जाती है।

(9) सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण (Determination of social status)—वर्ग सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करता है। व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य होता है उसी वर्ग के अनुरूप समाज में उसकी प्रस्थिति निर्धारित हो जाती है। परन्तु यह प्रस्थिति स्थायी नहीं है, क्योंकि मुक्त व्यवस्था होने के कारण स्वयं वर्ग की सदस्यता व्यक्ति की योग्यता के आधार पर परिवर्तित हो सकती है।

भारत में जाति बनाम वर्ग सम्बन्धी विवाद

जिस प्रकार समाजशास्त्र में आनुवंशिकता बनाम पर्यावरण तथा गाँव बनाम नगर के बारे में विवाद काफी देर तक प्रचलित रहा है, उसी प्रकार भारत में जाति बनाम वर्ग सम्बन्धी विवाद ने भी सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन करने वाले विद्वानों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया है। पहले भारत में व्यक्ति की प्रस्थिति जन्म से ही उसकी जाति द्वारा निर्धारित हो जाती थी। आज व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में शिक्षा, व्यवसाय व पद, आर्थिक स्थिति, शक्ति इत्यादि अनेक कारकों की भूमिका होती है। सामाजिक स्तरीकरण एवं गतिशीलता का अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों का कहना है कि आज भारत में जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था में परिवर्तित हो रही है।

परन्तु, क्या वास्तव में भारत में हजारों वर्षों से चली आ रही जाति व्यवस्था पश्चिमी समाजों में पाई जाने वाली वर्ग व्यवस्था में परिवर्तित हो रही है? इस प्रश्न का सम्बन्ध जाति एवं वर्ग की सीमाओं से है। जाति व्यवस्था समाज की ऐसी खण्डात्मक व्यवस्था है जिसके विभिन्न स्तरों (जातियों) में प्रकार्यात्मक रूप से सहयोग पाया जाता है। वर्ग व्यवस्था भी एक खण्डात्मक व्यवस्था है जिसके विभिन्न स्तरों (वर्गों) में प्रतियोगिता पाई जाती है। इन दोनों की सीमाओं से सम्बन्धित एक अन्य अन्तर (जैसा कि **एडमण्ड लीच** ने बताया है) यह है कि वर्ग समाजों में विशिष्ट जनसमूह अल्पसंख्यक समूह हैं तथा बहुसंख्यक निम्न वर्गों के लोग विशिष्टजनों का समर्थन पाने के लिए आपस में प्रतियोगिता में लगे हुए हैं। जाति व्यवस्था में इनके विपरीत बात पाई जाती है, क्योंकि प्रभु जातियों में निम्न जातियों के व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए होड़ पाई जाती है।

क्या यह स्तरीकरण की दो विभिन्न व्यवस्थाएँ हमारे समाज में एक साथ पाई जाती हैं अथवा केवल एक ही पाई जाती है? इसके बारे में भी विद्वानों में अधिक सहमति नहीं है। बहुत-से विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि वर्ग व्यवस्था (**मार्क्स** के शब्दों में अगर वर्ग व्यवस्था को वर्ग चेतना की दृष्टि से देखा जाए) भारतीय समाज के सन्दर्भ में पाई ही नहीं जाती क्योंकि यहाँ प्रारम्भ से ही जाति व्यवस्था की प्रधानता रही है, जबकि **आन्द्रे बेतेई** (Andre Beteille) जैसे विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि वर्ग व्यवस्था भारतीय समाज में पाई जाती है। वास्तव में, इनका विचार है कि समाजशास्त्री एवं सामाजिक मानवशास्त्री भारत में वर्ग व्यवस्था के अध्ययन में अधिक शर्मीले रहे हैं।

योगेन्द्र सिंह (Yogendra Singh) ने भारत में जाति एवं वर्ग के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जाति तथा वर्ग एक ही बिन्दु पर मिलते (Coincide) हैं। इसका अर्थ यह है कि जाति और वर्ग आपस में पूर्ण रूप से जुड़े हुए हैं। अगर हम परम्परागत रूप से जाति व्यवस्था को देखें तो यह पाते हैं कि उच्च जाति के लोग सामान्यत: आर्थिक दृष्टि से भी उच्च थे (अर्थात् उच्च वर्ग के थे)। क्योंकि जाति व्यवस्था भारतीय समाज में एक सुदृढ़ व्यवस्था रही है, अत: इसने वर्ग व्यवस्था को अपने नीचे दबाये रखा है और उसे उभरने नहीं दिया है। लोगों की जागरूकता तथा वफादारी जाति के प्रति रही है न कि वर्ग के प्रति।

अगर हम **योगेन्द्र सिंह** के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लें तो इस प्रश्न का उत्तर देना सरल हो जाता है कि क्या भारतीय समाज में जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है? जाति व्यवस्था में आज नगरीकरण, औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण तथा शिक्षा, आवागमन एवं संचार के साधनों में विकास के कारण महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। इसकी कठोर निषेधात्मक प्रवृत्ति ढीली होती जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वर्ग व्यवस्था, जिसे पहले जाति व्यवस्था अपने अन्दर समाये हुए थी, अब उससे पृथक् होने लगी है। साथ ही, आज जातियों में सहयोग (जोकि इस व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता रही है) समाप्त होता जा रहा है और इसका स्थान प्रतियोगिता (वर्ग व्यवस्था की विशेषता) लेती जा रही है। विभिन्न विद्वानों ने भारतीय समाज में पाए जाने वाल विभिन्न वर्गों (जैसे भू-स्वामी वर्ग, पूँजीपति वर्ग, श्रमिक वर्ग, काश्तकार वर्ग इत्यादि) का उल्लेख किया है।

दूसरी ओर, आज भी गाँव में जाति व्यवस्था द्वारा अनेक कार्यों का सम्पादन किया जाता है। गाँव में व्यक्ति के जीवन चक्र, बहिर्विवाह एवं अन्तर्विवाह के नियम, व्यावसायिक निर्भरता, जाति पर आधारित समितियों एवं सभाओं का संगठन, आर्थिक जीवन, संस्तरणात्मक सम्बन्धों इत्यादि में जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साथ ही, समकालीन ग्रामीण भारत में प्रभु जाति की भूमिका से कोई भी इनकार नहीं कर सकता है। कई बार तो गाँव की पहचान ही जाति के आधार पर होती है। आज भी अनेक लोगों को यह कहते हुए सुना जा सकता है कि अमुक गाँव राजपूतों का है, जाटों का है, अहीरों का है, गूजरों का है अथवा ब्राह्मणों का है। ऐसा कहने का आधार किसी विशिष्ट गाँव में इन जातियों की यथेष्ट संख्या तथा ग्रामीण व्यवस्था (शक्ति संरचना सहित) को बनाए रखने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस दृष्टि से जाति गाँव का दर्पण है। इतना ही नहीं, ग्रामीण समाज में किसी व्यक्ति की आर्थिक गतिशीलता भी काफी सीमा तक उसकी जाति द्वारा ही निर्धारित होती है।

सामाजिक स्तरीकरण की दृष्टि से ग्रामीण भारत निश्चित रूप से परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। **एस० एम० शाह** (S. M. Shah) ने गुजरात के गाँवों के बारे में आनुभविक सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि नवीन आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियाँ गाँव की सजातीय प्रकृति तथा विभिन्न जातियों में पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सहयोग को समाप्त कर रही हैं। **के० एल० शर्मा** (K. L. Sharma) के अनुसार ग्रामीण भारत में जाति नई भूमिका ग्रहण करती जा रही है। यह जाति का नया रूप है जिसे 'जाति का अवतार' भी कहा जा सकता है। जाति व्यवस्था में हो रहे इन परिवर्तनों को जजमानी व्यवस्था की समाप्ति तथा नवीन व्यवसायों के उदय, नए प्रभु समूहों एवं परिवारों के स्वरूपों, अस्पृश्यता एवं अपवित्रता-पवित्रता के नियमों में कमी इत्यादि में स्पष्टत: देखा जा सकता है।

वस्तुत: ग्रामीण भारत में **संरचनात्मक** एवं **परिधीय** (Structural and peripheral) दोनों प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। संरचनात्मक परिवर्तनों ने जाति व्यवस्था को काफी प्रभावित किया है। संरचनात्मक परिवर्तनों में जमींदारी एवं जागीरदारी व्यवस्थाओं की समाप्ति, पंचायती राज का प्रचलन, वयस्क मताधिकार, सहकारी समितियाँ इत्यादि प्रमुख हैं। साथ ही, इनसे ग्रामीण भारत में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं। परिधीय परिवर्तनों में

गाँव में आधुनिक स्कूलों की स्थापना, सड़कों का निर्माण, जन स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना, संचार सम्बन्ध एवं प्रवसन प्रमुख हैं। ग्रामीण भारत में शक्ति के भी नए केन्द्र विकसित हो रहे हैं। इन परिवर्तनों को लाने में आधुनिकीकरण, संस्कृतिकरण, असंस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिक शिक्षा इत्यादि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जाति को वर्ग में परिवर्तित करने में सरकारी नीतियाँ, जाति एवं वर्ग में सहसम्बन्ध, प्रभु जातियों का घटता हुआ प्रभाव इत्यादि प्रमुख हैं। ऐसा लगता है कि जाति, भूमि एवं राजनीति तीनों वर्ग निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।

परन्तु क्या इस परिवर्तन के आधार पर ही हम यह कह सकते हैं कि जाति व्यवस्था आज हमारे समाज में समाप्त होती जा रही है और उसका स्थान वर्ग व्यवस्था लेती जा रही है? शायद नहीं, क्योंकि वर्ग व्यवस्था हमारे समाज में उभर रही है, इसके बारे में कोई सन्देह नहीं है, परन्तु यह जाति व्यवस्था की समाप्ति का सूचक है, इसे स्वीकार करने में कठिनाइयाँ हैं। जाति व्यवस्था में यद्यपि अनेक संरचनात्मक, परिधीय एवं संस्थागत परिवर्तन हो रहे हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यवस्था हमारे समाज में समाप्त होती जा रही है। अगर जाति व्यवस्था से सम्बन्धित सभी निषेध पूर्णत: समाप्त हो जाएँ और इसमें वर्ग व्यवस्था की तरह खुलापन आ जाए तो हमें इस तर्क को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी, परन्तु अभी ऐसा नहीं है। अत: अभी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है। इतना जरूर है कि वर्ग संरचना धीरे-धीरे भारतीय समाज में स्पष्ट रूप से उभरती जा रही है। ●